हेत्वाभास

हेत्वाभास सामान्य के विभाग में तार्किकों की विप्रतिपत्ति है। अक्षपाद[1] पाँच हेत्वाभासों को मानते व वर्णन करते हैं। कणाद के सूत्र में[2] स्पष्टतया तीन हेत्वाभासों का निर्देश है, तथापि प्रशस्तपाद[3] उस सूत्र का आशय बतलाते हुए चार हेत्वाभासों का वर्णन करते हैं। असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक यह तीन तो अक्षपादकथित पाँच हेत्वाभासों में भी आते ही हैं। प्रशस्तपाद ने अनध्यवसित नामक चौथा हेत्वाभास बतलाया है जो न्यायसूत्र में नहीं है। अक्षपाद और कणाद उभय के अनुगामी भासर्वज्ञ ने[4] छः हेत्वाभास वर्णित किये हैं जो न्याय और वैशेषिक दोनों प्राचीन परम्पराओं का कुल जोड़ मात्र है।

दिङ्नाग कर्तृक माने जानेवाले न्यायप्रवेश में[5] असिद्ध, विरुद्ध और अनैकान्तिक इन तीनों का ही संग्रह है। उत्तरवर्ती धर्मकीर्ति आदि सभी बौद्ध तार्किकों ने भी न्यायप्रवेश की ही मान्यता को दोहराया और स्पष्ट किया है। पुराने सांख्याचार्य माठर[6] ने भी उक्त तीन ही हेत्वाभासों का सूचन व संग्रह किया है। जान पड़ता है मूल में सांख्य और कणाद की हेत्वाभाससंख्या विषयक परम्परा एक ही रही है।

जैन परम्परा वस्तुतः कणाद, सांख्य और बौद्ध परम्परा के अनुसार तीन ही हेत्वाभासों को मानती है। सिद्धसेन[7] और वादिदेव ने (प्रमाणन० ६. ४७)

---

१ न्यायसू० १. २. ४।

२ 'अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् संदिग्धश्चानपदेशः।'—वै० सू० ३.१. १५।

३ 'एतेनासिद्धविरुद्धसन्दिग्धाध्यवसितवचनानाम् अनपदेशत्वमुक्तं भवति।' —प्रश० पृ० २३८।

४ 'असिद्धविरुद्धानैकान्तिकानध्यवसितकालात्ययापदिष्टप्रकरणसमाः।' —न्यायसार पृ० ७।

५ 'असिद्धानैकान्तिकविरुद्धा हेत्वाभासाः।'—न्यायप्र० पृ० ३।

६ 'अन्ये हेत्वाभासाः चतुर्दश असिद्धानैकान्तिकविरुद्धादयः।'—माठर ५।

७ 'असिद्धस्त्वप्रतीतो यो योऽन्यथैवोपपद्यते। विरुद्धो योऽन्यथाप्यत्र युक्तोऽनैकान्तिकः स तु॥'—न्याया० का० २३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

असिद्ध आदि तीनों का ही वर्णन किया है। आ० हेमचन्द्र भी उसी मार्ग के अनुगामी हैं। आ० हेमचन्द्र ने न्यायसूत्रोक्त कालातीत आदि दो हेत्वाभासों का निरास किया है पर प्रशस्तपाद और भासर्वज्ञकथित अनध्यवसित हेत्वाभास का निरास नहीं किया है। जैन परम्परा में भी इस जगह एक मतभेद है—वह यह कि अकलङ्क और उनके अनुगामी माणिक्यनन्दी आदि दिगम्बर तार्किकों ने चार हेत्वाभास बतलाए हैं[1] जिनमें तीन तो असिद्ध आदि साधारण ही हैं पर चौथा अकिञ्चित्कर नामक हेत्वाभास बिलकुल नया है जिसका उल्लेख अन्यत्र कहीं नहीं देखा जाता। परन्तु यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि जयन्त भट्ट ने अपनी न्यायमञ्जरी[2] में अन्यथासिद्धापरपर्याय अप्रयोजक नामक एक नये हेत्वाभास को मानने का पूर्वपक्ष किया है जो वस्तुतः जयन्त के पहिले कभी से चला आता हुआ जान पड़ता है। अप्रयोजक और अकिञ्चित्कर इन दो शब्दों में स्पष्ट भेद होने पर भी आपाततः उनके अर्थ में एकता का भास होता है। परन्तु जयन्त ने अप्रयोजक का जो अर्थ बतलाया है और अकिञ्चित्कर का जो अर्थ माणिक्यनन्दी के अनुयायी प्रभाचन्द्र ने[3] किया है उनमें बिलकुल अन्तर है, इससे यह कहना कठिन है कि अप्रयोजक और अकिञ्चित्कर का विचार मूल में एक है; फिर भी यह प्रश्न हो ही जाता है कि पूर्ववर्ती बौद्ध या जैन न्यायग्रन्थों में अकिञ्चित्कर का नाम निर्देश नहीं तब अकलङ्क ने उसे स्थान कैसे दिया, अतएव यह सम्भव है कि अप्रयोजक या अन्यथासिद्ध माननेवाले किसी पूर्ववर्ती तार्किक ग्रन्थ के आधार पर ही अकलङ्क ने अकिञ्चित्कर हेत्वाभास की अपने ढंग से नई सृष्टि की हो। इस अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का खण्डन केवल वादिदेव के सूत्र की व्याख्या (स्याद्वादर० पृ० १२३०) में देखा जाता है।

---

१ 'असिद्धश्चानुषत्वादिः शब्दानित्यत्वसाधने। अन्यथासम्भवाभावभेदात् स बहुधा स्मृतः॥ विरुद्धासिद्धसंदिग्धैरकिञ्चित्करविस्तरैः।'—न्यायवि० २. १६५-६। परी० ६. २१।

२ 'अन्ये तु अन्यथासिद्धत्वं नाम तद्भेदमुदाहरन्ति यस्य हेतोर्धर्मिणि वृत्तिर्भवन्त्यपि साध्यधर्मप्रयुक्ता भवति न, सोऽन्यथासिद्धो यथा नित्या मनःपरमाणवो मूर्त्तत्वाद् घटवदिति.....स चात्र प्रयोज्यप्रयोजकभावो नास्तीत्यत एवायमन्यथासिद्धोऽप्रयोजक इति कथ्यते। कथं पुनरस्याप्रयोजकत्वमवगतम्?'—न्यायम० पृ० ६०७।

३ 'सिद्धे निर्णीते प्रमाणान्तरात्साध्ये प्रत्यक्षादिबाधिते च हेतुर्न किञ्चित्करोति इति अकिञ्चित्करोऽनर्थकः।'—प्रमेयक० पृ० १६३ A।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ऊपर जो हेत्वाभाससंख्या विषयक नाना परम्पराएँ दिखाई गई हैं उन सब का मतभेद मुख्यतया संख्याविषयक है, तत्त्वविषयक नहीं। ऐसा नहीं है कि एक परम्परा जिसे अमुक हेत्वाभास रूप दोष कहती है अगर वह सचमुच दोष हो तो उसे दूसरी परम्परा स्वीकार न करती हो। ऐसे स्थल में दूसरी परम्परा या तो उस दोष को अपने अभिप्रेत किसी हेत्वाभास में अन्तर्भावित कर देती है या पक्षाभास आदि अन्य किसी दोष में या अपने अभिप्रेत हेत्वाभास के किसी न किसी प्रकार में।

आ० हेमचन्द्र ने हेत्वाभास (प्र० मी० २. १. १६) शब्द के प्रयोग का अनौचित्य बतलाते हुए भी साधनाभास अर्थ में उस शब्द के प्रयोग का समर्थन करने में एक तीर से दो पक्षी का वेध किया है—पूर्वाचार्यों की परम्परा के अनुसरण का विवेक भी बतलाया और उनकी गलती भी दर्शाई। इसी तरह का विवेक माणिक्यनन्दी ने भी दर्शाया है। उन्होंने अपने पूज्य अकलङ्ककथित अकिञ्चित्कर हेत्वाभास का वर्णन तो किया; पर उन्हें जब उस हेत्वाभास के अलग स्वीकार का औचित्य न दिखाई दिया तब उन्होंने एक सूत्र में इस ढङ्ग से उसका समर्थन किया कि समर्थन भी हो और उसके अलग स्वीकार का अनौचित्य भी व्यक्त हो–'लक्षण एवासौ दोषो व्युत्पन्नप्रयोगस्य पक्षदोषेणैव दुष्टत्वात्'-(परी० ६. ३६)।

असिद्ध हेत्वाभास

न्यायसूत्र (१.२.८) में असिद्ध का नाम साध्यसम है। केवल नाम के ही विषय में न्यायसूत्र का अन्य ग्रन्थों से वैलक्षण्य नहीं है किन्तु अन्य विषय में भी। वह अन्य विषय यह है कि जब अन्य सभी ग्रन्थ असिद्ध के कम या अधिक प्रकारों का लक्षण उदाहरण सहित वर्णन करते हैं तब न्यायसूत्र और उसका भाष्य ऐसा कुछ भी न करके केवल असिद्ध का सामान्य स्वरूप बतलाते हैं।

प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश में असिद्ध के चार प्रकारों का स्पष्ट और समानप्राय[1] वर्णन है। माठर (का० ५) भी उसके चार भेदों का निर्देश करते हैं जो सम्भवतः उनकी दृष्टि में वे ही रहे होंगे। न्यायबिन्दु में धर्म्मकीर्त्ति

---

१ 'उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धः तद्भावासिद्धोऽनुमेयासिद्धश्चेति।'–प्रशस्त० पृ० २३८। 'उभयासिद्धोऽन्यतरासिद्धः संदिग्धासिद्धः आश्रयासिद्धश्चेति।' –न्यायप्र० पृ० ३।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

ने प्रशस्तपादादिकथित चार प्रकारों का तो वर्णन किया ही है पर उन्होंने प्रशस्तपाद तथा न्यायप्रवेश की तरह आश्रयासिद्ध का एक उदाहरण न देकर उसके दो उदाहरण दिये हैं और इस तरह असिद्ध के चौथे प्रकार आश्रयासिद्ध के भी प्रभेद कर दिये हैं। धर्मकीर्ति का वर्णन वस्तुतः प्रशस्तपाद और न्याय-प्रवेशगत प्रस्तुत वर्णन का थोड़ा सा संशोधन मात्र है (न्यायबि० ३ ५८-६७)।

न्यायसार (पृ० ८) में असिद्ध के चौदह प्रकार सोदाहरण बतलाए गए हैं। न्यायमञ्जरी (पृ० ६०६) में भी उसी ढंग पर अनेक भेदों की सृष्टि का वर्णन है। माणिक्यनन्दी शब्द-रचना बदलते हैं (परी० ६. २२-२८) पर वस्तुतः वे असिद्ध के वर्णन में धर्मकीर्त्ति के ही अनुगामी हैं। प्रभाचन्द्र ने परीक्षामुख की टीका मार्तण्ड में (पृ० १६१ A) मूल सूत्र में न पाए जाने-वाले असिद्ध के अनेक भेदों के नाम तथा उदाहरण दिये हैं जो न्यायसारगत ही हैं। आ० हेमचन्द्र के असिद्धविषयक सूत्रों की सृष्टि न्यायबिन्दु और परीक्षामुख का अनुसरण करनेवाली है। उनकी उदाहरणमाला में भी शब्दशः न्यायसार का अनुसरण है। धर्मकीर्त्ति और माणिक्यनन्दी का अक्षरशः अनुसरण न करने के कारण वादिदेव के असिद्धविषयक सामान्य लक्षण (प्रमाणन० ६. ४६) में आ० हेमचन्द्र के सामान्य लक्षण की अपेक्षा विशेष परिष्कृतता जान पड़ती है। वादिदेव के प्रस्तुत सूत्रों की व्याख्या रत्नाकरावतारिका में जो असिद्ध के भेदों की उदाहरणमाला है वह न्यायसार और न्यायमञ्जरी के उदाहरणों का अक्षरशः सङ्कलन मात्र है। इतना अन्तर अवश्य है कि कुछ उदाहरणों में वस्तुविन्यास वादी देवसूरि का अपना है।

विरुद्ध हेत्वाभास

जैसा प्रशस्तपाद में विरुद्ध के सामान्य स्वरूप का वर्णन है विशेष भेदों का नहीं, वैसे ही न्यायसूत्र और उसके भाष्य में भी विरुद्ध का सामान्य रूप से वर्णन है, विशेष रूप से नहीं। इतना साम्य होते हुए भी सभाष्य-न्यायसूत्र और प्रशस्तपाद में उदाहरण एवं प्रतिपादन का भेद[1] स्पष्ट है।

---

१ 'सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः।'—न्यायसू० १. २. ६। 'यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्, न नित्यो विकार उपपद्यते इत्येवं हेतुः—'व्यक्तेरपेतोपि विकारोस्ति' इत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते। यदस्ति न तदात्मलाभात् प्रच्यवते, अस्तित्वं चात्मलाभात्

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जान पड़ता है न्यायसूत्र की और प्रशस्तपाद की विरुद्ध विषयक विचारपरम्परा एक नहीं है।

न्यायप्रवेश (पृ० ५) में विरुद्ध के चार भेद सोदाहरण बतलाए हैं। सम्भवतः माठर (का० ५) को भी वे ही अभिप्रेत हैं। न्यायबिन्दु (३.८३-८८) में विरुद्ध के प्रकार दो ही उदाहरणों में समाप्त किये गए हैं और तीसरे 'इष्टविघातकृत्' नामक अधिक भेद होने की आशङ्का (३. ८६-६४) करके उसका समावेश अभिप्रेत दो भेदों में ही कर दिया गया है। इष्टविघातकृत् नाम न्यायप्रवेश में नहीं है पर उस नाम से जो उदाहरण न्यायबिन्दु (३.६०) में दिया गया है वह न्यायप्रवेश (पृ० ५) में वर्तमान है। जान पड़ता है न्यायप्रवेश में जो 'परार्थाः चक्षुरादयः' यह धर्म्मविशेषविरुद्ध का उदाहरण है उसी को कोई इष्टविघातकृत् नाम से व्यवहृत करते होंगे जिसका निर्देश करके धर्मकीर्त्ति ने अन्तर्भाव किया है। जयन्त ने (न्यायम० पृ० ६००-६०१) गौतमसूत्र की ही व्याख्या करते हुए धर्म्मविशेषविरुद्ध और धर्म्मिविशेषविरुद्ध इन दो तीर्थान्तरीय विरुद्ध भेदों का स्पष्ट खण्डन किया है जो न्यायप्रवेशवाली परम्परा का ही खण्डन जान पड़ता है। न्यायसार (पृ० ६) में विरुद्ध के भेदों का वर्णन सबसे अधिक और जटिल भी है। उसमें सपक्ष के अस्तित्ववाले चार, नास्तित्ववाले चार ऐसे विरुद्ध के आठ भेद जिन उदाहरणों के साथ हैं, उन उदाहरणों के साथ वही आठ भेद प्रमाणनयतत्त्वालोक की व्याख्या में भी हैं (प्रमाणन० ६५२-५३)। यद्यपि परीक्षामुख की व्याख्या मार्तण्ड में (पृ० १६२ A) न्यायसारवाले वे ही आठ भेद हैं तथापि किसी-किसी उदाहरण में थोड़ा सा परिवर्त्तन हो गया है। आ० हेमचन्द्र ने तो प्रमाणनयतत्त्वालोक की व्याख्या की तरह अपनी वृत्ति में शब्दशः न्यायसार के आठ भेद सोदाहरण बतलाकर उनमें से चार विरुद्धों को असिद्ध एवं विरुद्ध दोनों नाम से व्यवहृत करने की न्यायमञ्जरी और न्यायसार की दलीलों को अपना लिया है।

प्रच्युतिरिति विरुद्धावेतौ धर्मौ न सह सम्भवत इति। सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्तते तमेव व्याहन्ति इति।'—न्यायभा० १. २. ६। 'यो ह्यनुमेयेऽविद्यमानोऽपि तत्समानजातीये सर्वस्मिन्नास्ति तद्विपरीते चास्ति स विपरीतसाधनाद्विरुद्धः यथा यस्माद्विषाणी तस्मादश्व इति।'—प्रशस्त० पृ० २३८।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अनैकान्तिक हेत्वाभास

अनैकान्तिक हेत्वाभास के नाम के विषय में मुख्य दो परम्पराएँ प्राचीन हैं। पहली गौतम की और दूसरी कणाद की। गौतम अपने न्यायसूत्र में जिसे सव्यभिचार (१. २. ५.) कहते हैं उसी को कणाद अपने सूत्रों (३. १. १५) में सन्दिग्ध कहते हैं। इस नामभेद की परम्परा भी कुछ अर्थ रखती है और वह अर्थ अगले सब व्याख्याग्रन्थों से स्पष्ट हो जाता है। वह अर्थ यह है कि एक परम्परा अनैकान्तिकता को अर्थात् साध्य और उसके अभाव के साथ हेतु के साहचर्य को, सव्यभिचार हेत्वाभास का नियामक रूप मानती है संशयजनकत्व को नहीं जब दूसरी परम्परा संशयजनकत्व को तो अनैकान्तिक हेत्वाभासता का नियामक रूप मानती है साध्य-तदभावसाहचर्य को नहीं। पहली परम्परा के अनुसार जो हेतु साध्य-तदभावसहचरित है चाहे वह संशयजनक हो या नहीं-वही सव्यभिचार या अनैकान्तिक कहलाता है। दूसरी परम्परा के अनुसार जो हेतु संशयजनक है—चाहे वह साध्य-तदभावसहचरित हो या नहीं-वही अनैकान्तिक या सव्यभिचार कहलाता है। अनैकान्तिकता के इस नियामकभेदवाली दो उक्त परम्पराओं के अनुसार उदाहरणों में भी अन्तर पड़ जाता है। अतएव गौतम की परम्परा में असाधारण या विरुद्धाव्यभिचारी का अनैकान्तिक हेत्वाभास में स्थान सम्भव ही नहीं क्योंकि वे दोनों साध्याभावसहचरित नहीं। उक्त सार्थक-नामभेद वाली दोनों परम्पराओं के परस्पर भिन्न ऐसे दो दृष्टिकोण आगे भी चालू रहे पर उत्तरवर्ती सभी तर्कशास्त्रों में—चाहे वे वैदिक हों, बौद्ध हों, या जैन—नाम तो केवल गौतमीय परम्परा का अनैकान्तिक ही जारी रहा। कणादीय परम्परा का सन्दिग्ध नाम व्यवहार में नहीं रहा।

प्रशस्तपाद और न्यायप्रवेश इन दोनों का पौर्वापर्य अभी सुनिश्चित नहीं अतएव यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि अमुक एक का प्रभाव दूसरे पर है तथापि न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद इन दोनों की विचारसरणी का अभिन्नत्व और पारस्परिक महत्त्व का भेद खास ध्यान देने योग्य है। न्यायप्रवेश में यद्यपि नाम तो अनैकान्तिक है सन्दिग्ध नहीं, फिर भी उसमें अनैकान्तिकता का नियामक रूप प्रशस्तपाद की तरह संशयजनकत्व को ही माना है। अतएव न्यायप्रवेशकार ने अनैकान्तिक के छः भेद बतलाते हुए उनके सभी उदाहरणों में संशयजनकत्व स्पष्ट बतलाया है[1]। प्रशस्तपाद न्यायप्रवेश की तरह संशय-

---

१ 'तत्र साधारणः—शब्दः प्रमेयत्वान्नित्य इति। तद्धि नित्यानित्यपक्षयोः

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जनकत्व को तो अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानते हैं सही, पर वे न्याय-प्रवेश में अनैकान्तिक रूप से उदाहृत किये गए असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी इन दो भेदों को अनैकान्तिक या सन्दिग्ध हेत्वाभास में नहीं गिनते बल्कि न्यायप्रवेशसम्मत उक्त दोनों हेत्वाभासों की सन्दिग्धता का यह कह करके खण्डन करते हैं कि असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी संशयजनक ही नहीं[1]। प्रशस्तपाद के खण्डनीय भागवाला कोई पूर्ववर्ती वैशेषिक ग्रन्थ या न्यायप्रवेश-भिन्न बौद्धग्रन्थ न मिले तब तक यह कहा जा सकता है कि शायद प्रशस्तपाद ने न्यायप्रवेश का ही खण्डन किया है। जो कुछ हो, यह तो निश्चित ही है कि प्रशस्तपाद ने असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को सन्दिग्ध या अनैकान्तिक मानने से इन्कार किया है। प्रशस्तपाद ने इस प्रश्न का, कि क्या तब असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी कोई हेत्वाभास ही नहीं?, जवाब भी बड़ी बुद्धिमानी से दिया है। प्रशस्तपाद कहते हैं कि असाधारण हेत्वाभास है सही पर वह संशयजनक न होने से अनैकान्तिक नहीं, किन्तु उसे अनध्यवसित कहना चाहिए। इसी तरह वे विरुद्धाव्यभिचारी को संशयजनक न मानकर या तो असाधारणरूप अनध्यवसित में गिनते हैं या उसे विरुद्धविशेष ही कहते (अयं तु विरुद्धभेद एव प्रश० पृ० २३६) हैं। कुछ भी हो पर वे किसी तरह असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को न्यायप्रवेश की तरह संशयजनक मानने को तैयार नहीं हैं फिर भी वे उन दोनों को किसी न किसी हेत्वाभास में सन्निविष्ट करते ही हैं। इस चर्चा के सम्बन्ध में प्रशस्तपाद की और भी दो बातें खास ध्यान देने योग्य हैं। पहली तो यह है कि अनध्यवसित नामक

साधारणत्वादनैकान्तिकम्। किम् घटवत् प्रमेयत्वादनित्यः शब्दः आहोस्विदाकाश-वत्प्रमेयत्वान्नित्य इति।'–इत्यादि–न्यायप्र० पृ० ३।

१ 'असाधारणः–श्रावणत्वान्नित्य इति। तद्धि नित्यानित्यपक्षाभ्यां व्यावृत्त-त्वान्नित्यानित्यविनिर्मुक्तस्य चान्यस्यासम्भवात् संशयहेतुः किम्भूतस्यास्य श्रावण-त्वमिति।..... विरुद्धाव्यभिचारी यथा अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्; नित्यशब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववदिति। उभयोः संशयहेतुत्वात् द्वावप्येतावेके-कोऽनैकान्तिकः समुदितावेव।' न्यायप्र० पृ० ३, ४। 'एकस्मिंश्च द्वयोर्हेत्वोर्य-योक्तलक्षणयोर्विरुद्धयोः सन्निपाते सति संशयदर्शनादयमन्यः सन्दिग्ध इति केचित् यथा मूर्तत्वामूर्तत्वं प्रति मनसः क्रियावत्त्वास्पर्शवत्त्वयोरिति। नन्वयमसाधारण एवाचाक्षुषत्वप्रत्यक्षत्ववत् संहतयोरन्यतरपक्षासम्भवात् ततश्चानध्यवसित इति वक्ष्यामः।'–प्रशस्त० पृ० २३८, २३६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

हेत्वाभास की कल्पना और दूसरी यह कि न्यायप्रवेशगत विरुद्धाव्यभिचारी के उदाहरण से विभिन्न उदाहरण को लेकर विरुद्धाव्यभिचारी को संशयजनक मानने न मानने का शास्त्रार्थ। यह कहा नहीं जा सकता कि कणादसूत्र में अविद्यमान अनध्यवसित पद पहिले पहल प्रशस्तपाद ने ही प्रयुक्त किया या उसके पहिले भी इसका प्रयोग अलग हेत्वाभास अर्थ में रहा। न्यायप्रवेश में विरुद्धाव्यभिचारी का उदाहरण—'नित्यः शब्दः श्रावणत्वात् शब्दत्ववत्; अनित्यः शब्दः कृतकत्वात् घटवत्' यह है, जब कि प्रशस्तपाद में उदाहरण—'मनः मूर्त्तम् क्रियावत्त्वात्; मनः अमूर्त्तम् अस्पर्शवत्त्वात्'-यह है। प्रशस्तपाद का उदाहरण तो वैशेषिक प्रक्रिया अनुसार है ही, पर आश्चर्य की बात यह है कि बौद्ध न्यायप्रवेश का उदाहरण खुद बौद्ध प्रक्रिया के अनुसार न होकर एक तरह से वैदिक प्रक्रिया के अनुसार ही है क्योंकि जैसे वैशेषिक आदि वैदिक तार्किक शब्दत्व को जातिरूप मानते हैं वैसे बौद्ध तार्किक जाति को नित्य नहीं मानते। अस्तु, यह विवाद आगे भी चला।

तार्किकप्रवर धर्म्मकीर्त्ति ने हेत्वाभास की प्ररूपणा बौद्धसम्मत हेतुत्रैरूप्य के[1] आधार पर की, जो उनके पूर्ववर्त्ती बौद्ध ग्रन्थों में अभी तक देखने में नहीं आई। जान पड़ता है प्रशस्तपाद का अनैकान्तिक हेत्वाभास विषयक बौद्ध मन्तव्य का खण्डन बराबर धर्म्मकीर्त्ति के ध्यान में रहा। उन्होंने प्रशस्तपाद को जवाब देकर न्यायप्रवेश का बचाव किया। धर्म्मकीर्त्ति ने व्यभिचार को अनैकान्तिकता का नियामकरूप न्यायसूत्र की तरह माना फिर भी उन्होंने न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद की तरह संशयजनकत्व को भी उसका नियामक रूप मान लिया। प्रशस्तपाद ने न्यायप्रवेशसम्मत असाधारण को अनैकान्तिक मानने का यह कहकर के खण्डन किया था कि वह संशयजनक नहीं है। इसका जवाब धर्म्मकीर्त्ति ने असाधारण का न्यायप्रवेश की अपेक्षा जुदा उदाहरण रचकर और उसकी संशयजनकता दिखाकर, दिया और बतलाया कि असाधारण अनैकान्तिक हेत्वाभास ही है[2]। इतना करके ही धर्म्मकीर्त्ति सन्तुष्ट न रहे पर अपने मान्य

---

१ 'तत्र त्रयाणां रूपाणामेकस्यापि रूपस्यानुक्तौ साधनाभासः। उक्तावप्यसिद्धौ सन्देहे वा प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः। एकस्य रूपस्य'.. .. इत्यादि —न्यायबि० ३. ५७ से।

२ 'अनयोरेव द्वयो रूपयोः संदेहेऽनैकान्तिकः। यथा सात्मकं जीवच्छरीरं प्राणादिमत्त्वादिति।.....अत एवान्वयव्यतिरेकयोः संदेहादनैकान्तिकः। साध्येतरयोरतो निश्चयाभावात्।'—न्यायबि० ३. ६८-११०।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

आचार्य दिङ्नाग की परम्परा को प्रतिष्ठित बनाए रखने का और भी प्रयत्न किया। प्रशस्तपाद ने विरुद्धाव्यभिचारी के खण्डन में जो दलील दी थी उसको स्वीकार करके भी प्रशस्तपाद के खण्डन के विरुद्ध उन्होंने विरुद्धाव्यभिचारी का समर्थन किया और वह भी इस ढंग से कि दिङ्नाग की प्रतिष्ठा भी बनी रहे और प्रशस्तपाद का जवाब भी हो। ऐसा करते समय धर्म्मकीर्त्ति ने विरुद्धाव्यभिचारी का जो उदाहरण दिया है वह न्यायप्रवेश और प्रशस्तपाद के उदाहरण से जुदा है फिर भी वह उदाहरण वैशेषिक प्रक्रिया के अनुसार होने से प्रशस्तपाद को अग्राह्य नहीं हो सकता[1]। इस तरह बौद्ध और वैदिक तार्किकों की इस विषय में यहाँ तक चर्चा आई जिसका अन्त न्यायमञ्जरी में हुआ जान पड़ता है। जयन्त फिर अपने पूर्वाचार्यों का पक्ष लेकर न्यायप्रवेश और धर्म्मकीर्त्ति के न्यायबिन्दु का सामना करते हैं। वे असाधारण और विरुद्धाव्यभिचारी को अनैकान्तिक न मानने का प्रशस्तपादगत मत का बड़े विस्तार से समर्थन करते हैं पर साथ ही वे संशयजनकत्व को अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानने से भी इन्कार करते हैं[2]।

भासर्वज्ञ ने बौद्ध, वैदिक तार्किकों के प्रस्तुत विवाद का स्पर्श न कर अनैकान्तिक हेत्वाभास के आठ उदाहरण दिये हैं (न्यायसार पृ० १०), और कहीं संशयजनकता का उल्लेख नहीं किया है। जान पड़ता है वह गौतमीय परम्परा का अनुगामी है।

---

१ 'विरुद्धाव्यभिचार्यपि संशयहेतुरुक्तः। स इह कस्मान्नोक्तः।.....अत्रोदाहरणं यत्सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपदभिसम्बध्यते तत्सर्वगतं यथाऽकाशम्, अभिसम्बध्यते सर्वदेशावस्थितैः स्वसम्बन्धिभिर्युगपत् सामान्यमिति।..... द्वितीयोऽपि प्रयोगो यदुपलब्धिलक्षणप्राप्तं सन्नोपलभ्यते नः तत् तत्रास्ति। तद्यथा क्वचिदविद्यमानो घटः। नोपलभ्यते चोपलब्धिलक्षणप्राप्तं सामान्यं व्यक्त्यन्तरालेष्विति। अयमनुपलम्भप्रयोगः स्वभावश्च परस्परविरुद्धार्थसाधनादेकत्र संशयं जनयतः।'—न्यायबि० ३. ११२-१२१।

२ 'असाधारणविरुद्धाव्यभिचारिणौ तु न संत एव हेत्वाभासाविति न व्याख्यायेते।.....अपि च संशयजननमनैकान्तिकलक्षणमुच्यते चेत् काममसाधारणस्य विरुद्धाव्यभिचारिणो वा यथा तथा संशयहेतुतामधिरोप्य कथ्यतामनैकान्तिकता न तु संशयजनकत्वं तल्लक्षणम्...अपि तु पक्षद्वयवृत्तित्वमनैकान्तिकलक्षणम्.....'—न्यायम० पृ० ५६८-५६६।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जैन परम्परा में अनैकान्तिक और सन्दिग्ध यह दोनों ही नाम मिलते हैं। अकलङ्क (न्यायवि० २. १९६) सन्दिग्ध शब्द का प्रयोग करते हैं जब कि सिद्धसेन (न्याया० २३) आदि अन्य जैन तार्किक अनैकान्तिक पद का प्रयोग करते हैं। माणिक्यनन्दी की अनैकान्तिक निरूपण विषयक सूत्ररचना आ० हेमचन्द्र की सूत्ररचना की तरह ही वस्तुतः न्यायबिन्दु की सूत्ररचना की संक्षिप्त प्रतिच्छाया है। इस विषय में वादिदेव की सूत्ररचना वैसी परिमार्जित नहीं जैसी माणिक्यनन्दी और हेमचन्द्र की है, क्योंकि वादिदेव ने अनैकान्तिक के सामान्य लक्षण में ही जो 'सन्दिह्यते' का प्रयोग किया है वह जरूरी नहीं जान पड़ता। जो कुछ हो पर इस बारे में प्रभाचन्द्र, वादिदेव और हेमचन्द्र इन तीनों का एक ही मार्ग है कि वे सभी अपने-अपने ग्रन्थों में भासर्वज्ञ के आठ प्रकार के अनैकान्तिक को लेकर अपने-अपने लक्षण में समाविष्ट करते हैं। प्रभाचन्द्र के (प्रमेयक० पृ० १९२) सिवाय औरों के ग्रन्थों में तो आठ उदाहरण भी वे ही हैं जो न्यायसार में हैं। प्रभाचन्द्र ने कुछ उदाहरण बदले हैं।

यहाँ यह स्मरण रहे कि किसी जैनाचार्य ने साध्यसंदेहजनकत्व को या साध्यव्यभिचार को अनैकान्तिकता का नियामक रूप मानने न मानने की बौद्ध-वैशेषिकग्रन्थगत चर्चा को नहीं लिया है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org